कलचुरिकाल में भूमिदान व्यवस्था

शोधछात्रा

अनामिका मौर्या (SRF)

इ0वि0वि0, प्रयागराज

मुख्य शब्द : कलचुरि, भूमिदान, धार्मिक, ब्राह्मण, समाज, दानकर्त्ता, अभिलेख।

भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया गया है तथा अध्यात्म में दान, परोपकार, कल्याण आदि का विशेष स्थान रहा है। प्राचीन समय में दान को पुण्यप्रद धार्मिक कार्य माना जाता था। प्रारम्भ में दान के रूप में अन्न, फल, गाय आदि दिए जाते थे किन्तु कालान्तर में भूमि की महत्ता बढ़ने के साथ अचल सम्पत्ति के रूप में भूमि का भी दान किया जाने लगा। पूर्वमध्यकाल में भूमिदान का उपयोग धार्मिक कार्यों के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जटिलता के निराकरण के लिए भी किया जाने लगा। कलचुरि काल में भूमिदान व्यवस्था ने तत्कालीन समाज को किस प्रकार प्रभावित किया इसका विवेचन प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया गया है तथा अध्यात्म में दान, परोपकार, कल्याण आदि का विशेष स्थान रहा है। किसी अन्य के लिए अपनी वस्तु का त्याग कर देना ही दान कहलाता है। वस्तुतः ''किसी वस्तु से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व पैदा करना ही दान है।''[1] फिर चाहे वह धार्मिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित हो या स्वतन्त्र रूप से दिया गया हो।

सभी दानों में भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। महाभारत के अनुशासनपर्व में भूमिदान को सभी धार्मिक कार्यों में श्रेष्ठ कहा गया है।[2] भविष्यपुराण में भूमिदान की गणना दस महादानों में की गई है।[3] वही वशिष्ठ धर्मसूत्र में भूमिदान को 'अतिदान' कहा गया है।[4]

पूर्वकाल में भूमिदान ब्राह्मणों को यज्ञ करवाने के पश्चात दक्षिणा के रूप में दिया जाता था किन्तु कालान्तर में यह बौद्धिक उत्कर्ष एवं सामाजिक कल्याण हेतु दिया जाने लगा। दान

में दी हुई भूमि का उपयोग निवासन से लेकर भरण पोषण, पठन–पाठन, जीविकोपार्जन आदि के लिए प्रयुक्त होने लगी। आगे चलकर इसका दायरा और अधिक विस्तृत हुआ तथा भूमिदान का उपयोग आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं के लिए किया गया। इस प्रकार से भूमिदान की बहुपक्षीय मूल्य परम्परा जीवित दिखाई देती है।

धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित भूमिदान के उदाहरण हमें पूर्वकाल से ही मिलते हैं। अथर्ववेद में भूमिदान करने का संकेत मिलता है।[5] छांदोग्य उपनिषद में आचार्य को 100 ग्राम देने का उल्लेख किया गया है।[6] पारस्करगृह्यसूत्र में गुरू दक्षिणा के रूप में भूमिदान का वर्णन मिलता है।[7] बौद्धकाल में शासकों द्वारा विहार, उपवन, तथा ग्राम आदि भिक्षुओं को दान में दिया जाता था जिसका उपयोग भिक्षु अपने जीवनयापन के लिए करते थे।

कौटिल्य ने योग्य ब्राह्मणों, विद्वानों एवं उच्चपदाधिकारियों को भूमिदान देने का आदेश दिया है।[8] नासिक लेख में ब्राह्मणों को उनके जीविकोपार्जन के लिए ग्रामदान दिये जाने का वर्णन किया गया है।

गुप्तकाल में भी इस प्रकार के ग्रामदान का विवरण लेखों में मिलता है।[9] सेन तथा गाहड़वाल अभिलेखों में भी दान–दक्षिणा का विस्तृत विवरण है।[10]

याज्ञवल्क्य ने भूमिदान को दानपत्रों पर लिपिबद्ध करवाने की परम्परा का उल्लेख किया है। मत्स्यपुराण में पृथ्वी की स्वर्ण प्रतिमा दान से भूमिदान का संकेत मिलता है।[11] इस समय ग्रामदान को तुलापुरूषदान की दक्षिणा के रूप में दान का विवरण मिलता है।

पूर्वमध्यकाल के अनेक अभिलेखों से भी भूमिदान के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कलचुरि अभिलेखों में भी ब्राह्मणों को भूमिदान दिये जाने का वर्णन किया गया है। ब्राह्मणों को दान दिये जाने का मुख्य उद्देश्य पुण्य एवं स्वर्ग प्राप्ति की आकांक्षा थी। राजा, रानी तथा अन्य उच्च पदाधिकारी इसी उद्देश्य से दान किया करते थे। वृहस्पति स्मृति में भी भूमिदान मात्र से ही पाप की शुद्धि का उदाहरण मिलता है।[12]

भूमिदान प्राप्त करने के पश्चात् दानप्राप्तकर्ता के पास उस भूमि का कानूनी अधिकार भी मिल जाता था तथा दान में दी गई भूमि कर मुक्त होती थी। दान में उर्वरक एवं अनुर्वरक दोनों प्रकार की भूमि दी जाती थी।

लक्ष्मणराज द्वितीय के कारीतलाई प्रस्तर अभिलेख[13] से ज्ञात होता है कि राजकुमार शंकरगण तृतीय ने ग्राम दान दिया था। शासक एवं युवराज के अतिरिक्त रानियाँ भी दान दिया करती थी। विजय सिंह के कुम्भी ताम्रपत्रों[14] में रानी गोसलदेवी द्वारा ब्राह्मणों का दान दिए जाने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त युवराजदेव II के बिलहरी शिलालेख में भी रानी नोहला द्वारा दान देने का विवरण है।[15]

कलचुरि अभिलेखों से शासक के साथ–साथ उच्च पदाधिकारियों एवं सामन्तों द्वारा भी भूमिदान का उल्लेख प्राप्त होता है। द्वितीय पृथ्वीदेव के कोनी शिलालेख से सर्व्वाधिकारी पुरूषोत्तम द्वारा ग्रामदान देने का वर्णन मिलता है।[16] सामन्त ब्रह्मदेव के द्वारा धार्मिक कर्मकाण्ड के सम्बन्धित दान एवं ग्रामदान देने का प्रमाण द्वितीय पृथ्वीदेव के रत्नपुर शिलालेख से मिलता है।[17]

ब्राह्मणों को दान उनकी योग्यता, विद्वता एवं लोकप्रियता के आधार पर दिया जाता था। ब्राह्मणों के नाम के साथ उनके गोत्र, प्रवर, शाखा एवं पूर्वजों का भी उल्लेख किया जाता था। ब्राह्मण वेद, वेदांगों के ज्ञाता होते थे। ब्राह्मणों को उनकी विद्वता के आधार पर कई श्रेणियों में उन्हें बांटा जाता था। इनके अतिरिकत मठों, मन्दिरों को भी ग्रामदान उनके प्रबन्धन हेतु दिया जाता था। तत्कालीन समय में अन्य राजवंशों के अभिलेखों से भी इस प्रकार के दान के उदाहरण मिलते हैं।

भूमिदान की प्रथा का इस काल में प्रचलित होने के कई कारण उल्लेखनीय है–

- इस काल में बड़े पैमाने पर मन्दिरों का निर्माण और उसके पुजारियों के जीविकोपार्जन के लिए भूमिदान देना।
- जनसंख्या पर अत्यधिक दबाव के कारण ब्राह्मणों द्वारा मध्यदेश से सीमान्त क्षेत्रों में पलायन जहाँ भूमिदान प्रथा प्रचलित थी।
- यज्ञ एवं बलिप्रथा का ह्रास होने पर ब्राह्मण का व्यवसाय की तलाश में स्थानान्तरण।

अग्रहार–

ब्राह्मणों को दिया जाने वाला भूमिदान। ब्राह्मणों को अग्रहार प्राचीन समय से दिया जाता रहा किन्तु पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया। शासक यह अनुदान अपने

धार्मिक अनुष्ठानकर्ता को दक्षिणास्वरूप देता था। अनुष्ठानकर्ता के अलावा भूमि अनुदान, ज्योतिषी, पुण्यवाचक एवं प्रशासकों को भी दिया जाता था। भूमि अनुदान के साथ ही शासक उसके समस्त अधिकारों को भी दान प्राप्तकर्ता को दे देता था जो एक तरह से अधिकारों का हस्तान्तरण था जिससे राज्य का विशेषाधिकार प्रभावित हो रहा था।

शासकों द्वारा ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हस्तान्तरण से ब्राह्मण भूमिपतियों का एक कुलीन वर्ग उभर कर आया तथा उसने कृषि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ब्राह्मणों की स्थिति समाज में पूर्व की अपेक्षा अधिक सम्माननीय हो गयी थी उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ–साथ आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार भी दिए गए। प्रो0 रामशरण शर्मा के अनुसार ब्राह्मणों को सीमान्त क्षेत्रों में भूमिदान मिलने से उनका जनजातीय समुदायों से सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हुआ तथा नवीन जातियों का उदय हुआ।[18]

दान का स्थान एवं समय–

दानकर्त्ता दान के पुण्य को अधिक फलीभूत करने के लिए दान देने के स्थान एवं तिथि का निर्धारण करते थे जिसका विस्तृत विवरण स्मृतियों एवं पुराणों में प्राप्त होता है। दान देने का सबसे पवित्र एवं उत्कृष्ट स्थान तीर्थस्थान एवं मन्दिरों को माना जाता था। कलचुरि अभिलेखों में भी शासक के विधिवत् स्नान एवं पूजा अर्चना के पश्चात् दान देने का वर्णन किया गया है।

कर्ण के बनारस अभिलेख[19] से ज्ञात होता है कि राजा ने प्रयाग नामक तीर्थ स्थान पर भूमिदान किया था। स्कन्दपुराण[20] में वाराणसी, प्रयाग, पुष्कर, गंगा, कुरूक्षेत्र, नैमिषारण्य, अमरकण्टक, श्रीपर्वत, महाकाल, गोकर्ण, वेदपर्वत आदि स्थलों को पवित्र माना गया है। सभी पर्वत, नदियाँ एवं समुद्र, गोशाला, सिद्ध एवं ऋषियों के निवासस्थल, देवताओं के वास स्थान आदि स्थलों पर दान करने से अनन्त फल की प्राप्ति होती है।

दान देने हेतु पवित्र स्थान के साथ–साथ शुभ तिथि का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। कलचुरि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस काल में भी सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, पूर्णिमा, संक्रान्ति आदि के अवसर पर दान दिया जाता था। ऐसी मान्यता थी इन तिथियों पर दान देने से अधिक

फल की प्राप्ति होगी। कर्ण के बनारस अभिलेख में गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध पर भूमिदान दिया गया था।

कीर्तिवर्मन ने अपने पिता के पिण्डदान के समय भूमिदान किया था जिसका उल्लेख जयसिंह के रींवा ताम्रपत्र में किया गया है।[21]

दानविधि–

स्मृतियों एवं पुराणों में दान विधि का विस्तृत वर्णन दिया गया है। दान का मुख्य उद्देश्य पुण्य एवं स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा थी। इसके लिए शासक द्वारा विधिपूर्वक दान देने की पुष्टि अनेक कलचुरि अभिलेखों से होती है। शासक किसी पवित्र तीर्थ स्थान में स्नान करके, आचमन करके, हाथ में तिल, कुश तथा अक्षत लेकर माता–पिता तथा अपने पुण्य के लिए स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अनुदान देता था।[22]

कहीं–कहीं शासक संकलपर्वूक दान देता था[23] दानविधि का वर्णन विजय सिंह के रींवा पत्र अभिलेख तथा जयसिंह के जबलपुर पत्र अभिलेख वर्ष 918 में भी मिलता है।[24]

कतिपय स्थानों पर दानकर्ता द्वारा चरणों को धोकर दान देने का प्रचलन था।[25]

अभिलेखों में उल्लिखित है कि राजा दान देते समय हाथ में कुश, तिल तथा जल से युक्त अंजलि द्वारा ही संकल्प लेता था।[26]

दान का चिरस्थायित्व–

दान को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए स्मृतिकारों ने इस पर विशेष जोर दिया है। दान प्राप्तकर्ता को तथा उसकी भावी पीढ़ी को दान की सम्पत्ति का उपभोग करने में किसी प्रकार का कष्ट न हो इसलिए उनके अधिकारों को तब तक माना गया जब तक सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, नदी, वायु एवं आकाश है। उक्त कथन भूमिदान सम्बन्धी अभिलेखों में प्रायः लिखवाया जाता था। कलचुरि अभिलेखों में भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[27]

दान को चिरस्थायी बनाने के लिए ही सम्भवतः इसे प्रस्तरों पर लिपिबद्ध किया जाने लगा। याज्ञवल्क्य ने भी इसका उल्लेख किया है। कलचुरि अभिलेखों में दान में दी गयी भूमि को शासक का कोई उत्तराधिकारी या अन्य कोई अधिकारी वापस छीन न ले इसीलिए दानपत्रों पर भूमिदान के लाभ तथा उसे छीनने पर होने वाली हानि को लिखा जाता था। जो छीनने

वालों के प्रति श्रापजनक शब्दों का अंकन है। अभिलेखों में भूमिदान से होने वाले लाभ की भी चर्चा की गयी है जो व्यक्ति भूमिदान करता है वह संसार में यश, पुण्य तथा स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि कलचुरिकाल में भूमिदान का विशेष महत्व था। धार्मिक अभ्युत्थान के लिए दान को सर्वोत्तम साधन माना जाता था। कलचुरियों के समकालीन राजवंशों–पाल, प्रतिहार, सेन, चन्देल, आदि के अभिलेखों से भी भूमिदान के प्रमाण मिलते हैं। कलचुरी अभिलेखों में दानकर्ता एवं दानग्राही दोनों का विस्तृत विवरण किया गया है।

संदर्भ सूची–

1. पाण्डेय, डॉ0 राजबली (सम्पा0) हिन्दूधर्मकोश, पृ0 318, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2017
2. महाभारत, अनुशासनपर्व, (सम्पा0), नीलकण्ठ, पूना, 1929–33
3. भविष्य पुराण, पृ0 21, खेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1987
4. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 29.12 (सम्पा0) ए0ए0 फुहरर, बम्बई, 1916
5. अथर्ववेद, 5.11.1; 5.11.8 (सम्पा0) विश्वबन्धु, होशियारपुर, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1962
6. छांदोग्य उपनिषद, 4.1.4–51, गीता प्रेस गोरखपुर, वि0सं0 1994
7. पारस्कर गृह्यसूत्र, तृतीयकाण्ड, द्वादश कण्डिका, (सम्पा0) महादेव गंगाधर वाकरे, मुंशीराम मनोहर पबिल्शर्स, द्वितीय संस्करण 1982
8. अर्थशास्त्र, अधि0 2, प्रक0 19, अ0 1, (सम्पा0) गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम् 1921–25 (अनु0) आर0 शामशास्त्री मैसूर
9. का0इ0इ0 भाग–3, पृ0 49, (स्कन्दगुप्त का विहार स्तम्भ लेख), द्वारा फ्लीट, जान फेंथफुल, 1888
10. ए0ई0 14, पृ0 188, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया पब्लिकेशन
11. मत्स्यपुराण, अ0 284, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1906
12. वृहस्पति स्मृति, 1.7, डॉ0 गिरिजाशंकर शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत भवन

13. वी0वी0 मिराशी (सम्पा0), कार्पस इन्सक्रिप्शन इंडीकेरम ऑफ द कलचुरि चेदिइरा, जिल्द–4, भाग–I & II, क्र0 42, पृ0 191, 1955

14. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 परिशिष्ट पृ0 649

15. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 45, पृ0 212

16. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 90, पृ0 469

17. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 96, पृ0 505

18. पूर्वमध्यकालीन भारत का सामन्ती समाज और संस्कृति, पृ0 30, रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009

19. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 48, पृ0 244

20. स्कन्दपुराण (हेमाद्रि, दान पृ0 83), वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1906

21. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 65, पृ0 342

22. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 74, पृ0 390

23. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 101, पृ0 547 क्र0 102 पृ0 553

24. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 68 पृ0 362, क्र0 63, पृ0 328

25. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 91, पृ0 477

26. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 75, पृ0 400, क्र0 82, पृ0 421

27. क0इ0इ0, भाग–4, क्र0 56, पृ0 295, क्र0 75, पृ0 400